गठजोड़ (एलायंस) कैसे बनता है ?

लोगों के बीच गठजोड़ तब बनता है जब उन्हें समझ में आ जाता है कि अकेले या बिखरे हुए संगठनों से वे किसी बड़ी समस्या का मुकाबला नहीं कर सकते। हिन्दुस्तान के इतिहास में एक बड़ा गठजोड़ तब हुआ था जब देशवासियों को समझ में आ गया कि पूरे देश को लूटने वाले अंग्रेजों को परास्त करने के लिये पूरे देश को एक सूत्र में बंधना ज़रूरी था। 1857 में ऐसी एक कोशिश भी हुई लेकिन उस समय कोई एक महापंचायत नहीं बनी और अंग्रेजों ने उसका फायदा उठाकर फिर से अपना राज कायम कर लिया। फर्क सिर्फ इतना हुआ कि ईस्ट इंडिया कम्पनी की जगह अंग्रेज़ सरकार ने ले ली। यानि कि लूटने वाला व्यापारी, 'न्याय' करने वाले अधिकारी के पीछे छिप गया।

आने वाली पीढ़ियों ने इससे सबक सीखा कि केवल एक दुश्मन को इंगित करने से नहीं चलेगा, एक सर्वमान्य मंच की भी ज़रूरत है। करीब 50 वर्षों में वह मंच धीरे–धीरे तैयार होने लगा और उसका नाम था भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस। और 40 वर्षों के घमासान में वह मंच सफल भी हुआ। 1947 में अंग्रेजों ने राजकाज कांग्रेस को सौंप दिया।

ऐसा भी नहीं था कि कांग्रेस सर्वमान्य थी–उसका तो केवल जामा था। आज़ादी के पहले ही यह स्पष्ट हो गया था कि मुस्लिम लीग, राष्ट्रीय मंच से अलग राय रखती थी और इसी के नतीजतन पाकिस्तान का भी जन्म हुआ। लेकिन लीग एक मात्र अपना रास्ता नापने वाली पार्टी नहीं थी। 1967 के आते आते यानि कि 20 वर्षों में – जन संघ, स्वतंत्र पार्टी, और समाजवादियों ने मिलकर नया गठजोड़ बनाया और मध्य प्रदेश, हरियाणा, बिहार, एवम् उत्तर प्रदेश में कांग्रेस सरकार हार गई और सम्युक्त विधायक दल की सरकार पदासीन हुई। उससे पहले, बिना गठजोड़ बनाये, केरल में कम्युनिस्ट पार्टी अकेले ही चुनाव जीत चुकी थी।

इन सभी उदाहरणों से साफ हो जाता है कि राजनैतिक गठजोड़ के अलग अलग आधार हो सकते हैं। आज़ादी के पहले ''देश'' की कल्पना ही लोगों में एकजुट होने की भावना जगा पाई। उसके बाद ''विकास'' की चाह ने कांग्रेस को एकल सत्ता हथियाने का मौका दिया। लेकिन 1967 के गठजोड़ में जहां संधी ''हिंदू राष्ट्र'' की बात करते थे, वे पूंजीवादी समर्थक स्वतंत्र पार्टी और पिछड़ी जातियों की अगुवाई करने वाले समाजवादियों के साथ हाथ मिलाने को मजबूर हुए। उसके बाद के 40 साल में इसी मजबूरी के कारण राजनैतिक उठापटक चल रही है।

जो मजबूरी राजनैतिक दलों के मुंह बांये खड़ी है, वह है कि किसी में इतना दम नहीं कि वह अकेले ही बहुसंख्यकों के वोट जीत पाये। एक दो बार को छोड़ कर, 1977 के बाद से कांग्रेस को भी किसी न किसी और दल से हाथ मिलाना पड़ा है और हर दल का आधार अलग है। कोई धर्म के नाम पर जनता का दिल जीतने की कोशिश करता है, कोई जाति के नाम पर, तो कोई पिछड़पन और शोषण को खत्म करने के नाम पर, और कोई प्रांत विशेष के विकास के नाम पर। परंतु गठबंधन के लिये यह ज़रूरी हो जाता है कि इन विभिन्न गुटों के बीच कोई समझौता हो जाये, और वो किसी एक पहचान को सामान्य रूप से स्वीकारें। यानि कि दलितों की पार्टी बनेगी तो उसे भी वक्त के साथ कबूल करना पड़ेगा कि बिना स्वर्णों के सहारे वह सत्ता जीत नहीं सकती। और फिर दोनों मिल कर ''विकास'' की बात करेंगे।

तय है कि यही विडम्बना गैर–राजनैतिक संगठनों के सामने भी है। उसकी वजह है कि समाज ही बंटा हुआ है और हर गुट अपनी पहचान बनाये रखना चाहता है। साथ ही ज़्यादातर सामाजिक संस्थान या संगठन अपनी ढपली बजाने में भी मगन हैं। अगर किसी सामाजिक हस्ती ने तय कर लिया कि भिखारियों का मुफ़्त इलाज करने से समाज का भला होगा,

या सभी बच्चों को स्कूल भेजना एकमात्र पुण्य की राह है, या हर पुरूष में मातृत्व की भावना जागरूक करनी है, तो फिर दशकों तक वही काम करके केवल अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानी है।

समाज की बनावट भी इस तरह के बिखराव को बढ़ावा देती है। मसलन 20 साल पहले बड़ी बड़ी फैक्ट्रियाँ थीं जिसमें हज़ारों लोग मज़दूरी करते थे इसलिये उनको साथ बांधने में सुविधा थी। फैक्ट्रियों के बगल में लेबर कॉलोनियां थीं जहां परिवारों के बीच भी रिश्ते बनते थे। गाँव, कस्बों और मोहल्लों में लोग क्षेत्र या जाति के हिसाब से बसते थे और इसी पहचान के आधार पर वे एक दूसरे के सुख–दुख में हाथ बटाने से हिचकते नहीं थे।

लेकिन तीन धाराओं ने इस संम्भव एकता को गहरी चोट पहुँचाई है। पहला है विस्थापन का झटका जिसने लोगों को बड़े पैमाने पर ज़मीन से अलग कर दिया – शहर और गाँव दोनों में। दूसरा है रोज़गार का बदलता पहलू – बड़ी फैक्ट्रियाँ बंद होती जा रही हैं, व्यवस्थित काम पर अंकुश लग रहा है, किसान तक खुदकशी कर रहा है, और आदिवासी – दलित दर दर भटक रहे हैं। और तीसरी धारा है धर्म और जाति के नाम पर लगातार मिली–जुली संस्कृति पर हमला। यानि कि सभी पुराने रिश्ते नाते टूटते जा रहे हैं और उनकी जगह पर इंसानों के बीच स्पर्धा की होड़ लगी है।

यह सब संयोग से नहीं हो रहा है इसके पीछे समाज को चलाने वाले हुक्मरानों की सोची समझी नीति है। कारखानों को शहरों के अन्दर से उजाड़ कर एस. ई. ज़ेड (SEZ) में घेराबंदी कर देना, किसानों को उचित दाम न देकर अनाज को विदेश में सस्ती कीमतों पर बेचना, सरकारी नौकरियों पर पूरी रोक लगा देना, हर सार्वजनिक ईकाई को बड़े ठेकेदारों के हाथ सुपुर्द कर देना, देश के जल, जंगल, ज़मीन और सारी प्राकृतिक धरोहर को धनवान कम्पनियों की निजी सम्पत्ति बना देना, एवम् टी.वी., फिल्म और विज्ञापन द्वारा एक खाऊ संस्कृति को पैदा कर देना – यह सब एक साज़िश नहीं तो और क्या ?

ऐसी स्थिति में जनपक्षीय समुदायों में गठबंधन कैसे बन सकता है? पहले की दो जरूरतें तो शायद अभी भी लागू हैं। एक तो एक दुश्मन की पहचान, और दूसरा एक सर्वमान्य मंच की उत्पत्ति। परंतु आज के कूटनैतिक बिखराव के ज़माने में सवाल है कि दुश्मन कौन ? और मान्यता कैसी ?

असली दुश्मन की पहचान बहुत जटिल हो गई है। जिस प्रकार ईस्ट इंडिया कम्पनी का व्यापारी अंग्रेज़ सरकार के अधिकारी के पीछे छुप गया था, उसी प्रकार आज के शोषणकारी तत्व कई पर्दों, के पीछे छुपे हुए हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनी डाव केमिकल, जिसने भोपाल गैस – त्रासदी के ज़िम्मेदार यूनियन कार्बाइड फैक्ट्री को सस्ते में खरीदा और जिसका नाम न जाने कितने ज़हरीले रसायनिक पदार्थों से जुड़ा हुआ है, अपने आप को दुनिया की सबसे तरक्की–पसंद और प्रकृति–प्रेमी कम्पनी बताती है। संयुक्त–राष्ट्र अमेरिका, जिसका राष्ट्रपति छल के सहारे चुनाव जीता, और जिसने कई देशों पर बिना कारण सैनिक हमला किया, दुनिया का सबसे प्रजातांत्रिक देश कहलाता है। भारत के तीन कर्णधार – प्रधान मंत्री, वित्त मंत्री, और योजना आयोग के मुखिया, जिन पर पूरे राष्ट्र की अर्थव्यवस्था निर्भर है – तीनों ने विश्व बैंक/अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का नमक खाया है, उनके इशारे पर देश को ''सुधार ''रहे हैं, लेकिन फिर भी अपने को राष्ट्र के सच्चे सौदागर मानते हैं। हर राजनैतिक दल की हर सरकार जनता के नाम कई वादे करती है, लेकिन वादों को पूरा करवाने के लिये जनता को हर कदम पर लड़ना पड़ता है। और हर मोहल्ले का हर नेता सिकंदर से कम नहीं, भले ही मोहल्ले के किसी भी गुण्डे को वह काबू में न ला पाया हो।

मान्यताओं का बाज़ार भी गर्म है। कोई अपने को हिंदू मानता है, कोई अपने को मुसलमान, कोई मराठी होने पर गर्व महसूस करता है, कोई बिहारी होने में, कोई सरयूपारी है, तो कोई काण्यकुब्ज, और दोनों वाल्मीकि के जाने पर गंगा जल छिड़कते हैं। किसी की अस्मिता ''आरक्षित'' होने से जुड़ी है, किसी की पहचान ''अफसर'' से है, वर्ण, वर्ग, जाति, लिंग, आयु, प्रांत, भाषा – पता नहीं कितने टुकड़ों में समाज बटा हुआ है। समाज को चलाने वाले लगातार और टुकड़े पैदा करते रहते हैं। सड़क पर आप करोला चला रहे हैं या सूमो या बजाज या चप्पल चटखा रहे हों – यह समाज में आपका परिचय बताता है। आपका घर फुटपाथ पर है या झुग्गी में, कोठी में या इमारत में, तय करता है कि आप का वज़न कितना है। आपके बच्चे कैसे गा सकते हैं या नाच सकते हैं, आप कम्पयूटर जी के सवालों का जवाब दे सकते हैं या नहीं, आप किस नेता /अभिनेता की तरह सजते हैं, आप जेक्वार के फव्वारे के नीचे नहाते हैं या पाड़ा के पुकुर में या कनस्तर लेकर सूखे नलके के सामने खड़े रहते हैं, इसी होड़ में आपको दर्जा मिलता है। इस बाज़ार में कई विक्रेता भी बैठाये गये हैं, कुछ थोक में, कुछ फुटकर में। अड़हतिया पर्यावरण, महिला सशक्तिकरण, और एच.आई.वी. एड्स का माल सात समुंदर पार करते हैं, खोमचे वाले बंधुआ मज़दूर छुड़ाने, पौष्टिक आहार बांटने, और अनौपचारिक शिक्षा की पाठशाला खोलने की पुड़िया बेचने में मशगूल हैं। लोग किसके ईमान पर यकीन करें ?

इस सवाल का जवाब शायद उन्हीं प्रक्रियाओं में है जो सवाल को पैदा करते हैं। यानि कि यदि दुश्मन छुपने की कोशिश करता है, वह इसलिये कि बार बार उसकी पोल खुल जाती है। मसलन अगर बहु–राष्ट्रीय कम्पनी जन–पक्षीय होने का ढोंग करती हैं, वह इसलिये कि उसकी वास्तविक क्रियायें बड़े पैमाने पर लोगों को बर्बाद कर रहीं हैं। यही बात हर स्तर पर सही है – चाहे वह अंतर्राष्ट्रीय हो या राष्ट्रीय या स्थानीय। लोग जितना असलियत को समझेंगे, पहचानेंगे, उतना ही वे इन स्तरों के बीच की कड़ियां देख पायेंगे और विश्व भर में फैले दुश्मन को देख पायेंगे। लेकिन उसके लिये दुश्मन के प्रचार तंत्र को भी पहचानने की ज़रूरत है, उसे चुनौती देने की ताकत चाहिये। जैसे तीस वर्षों से, बड़े बांधों की निरंतर तारीफ के बाद भी उनकी खामियों को छुपाया नहीं जा सका है जिसमें बांध प्रभावितों के संगठनों ने अहम् भूमिका अपनाई है। जैसे टी.वी. पर भले ही किसान को कितना खुश दिखाया जाये, लेकिन उसकी खुदकशी की घटनाओं को कहाँ तक छुपा पायेंगे ? खास तौर से अगर उसका पर्दाफाश करने का बीड़ा कुछ हिम्मती लोगों ने उठा लिया है। जैसे आलीशान भवनों में 8 प्रतिशत विकास की दर का स्वागत है परंतु घर घर में 11 प्रतिशत मुद्रास्फीति दर की चर्चा है क्योंकि गोभी की कीमत रू 50 किलो हो गई है।

इसके साथ ही सत्ताधारियों की इच्छा प्रबल हो कि लोग बंटे रहें लेकिन अर्थव्यवस्था की जरूरत है कि लोग साथ आयें। अगर निर्माण कार्य करना है तो कारीगरों को इकट्ठा करना होगा। अगर माल ढोना है तो लोड़िंग–अनलोड़िंग के लिये मज़दूर की ज़रूरत होगी। क्रिकेट मैच से पैसे कमाना है तो बड़े स्टेडियम में दर्शकों को खचाखच भरना होगा। राजनेता बनना है तो रैली में हज़ारों प्रदर्शनकारियों को लाना होगा। यहाँ तक कि महिला सशक्तिकरण या जन क्षेत्र नियोजन के लिये भी समूह बनाना पड़ेगा। लोगों के रहन–सहन के हर पहलू पर जब हमला होगा, तब लोग अपनी सुरक्षा के लिये साथ जुड़ेंगे। जैसे एस.ई.जेड.(SEZ) के लिये ज़मीन हड़पी जायेगी तो किसान पंचायत बैठेगी। जैसे एक बच्ची से छेड़खानी होगी तो मोहल्ला एकजुट होगा। जैसे एक रेहड़ी को जबरन हटायेंगे तो बाकि विरोध की आवाज़ उठायेंगे। यानि कि दुश्मन की पहचान ही बगावत के बीज बोती है। लेकिन उस अंकुरित बीज को पानी खाद कौन देगा? कौन पौधे की देख –रेख करेगा?

यहीं पर नेतृत्व का सवाल आता है कि कौन लोगों को बांध कर रखेगा ? 'परम्परा' यही कहती है कि अगुवाई के लिये एक ऐसे व्यक्ति की ज़रूरत होती है जो निःस्वार्थ हो, जिसमें लोगों का विश्वास हो, जो अपना सब कुछ असहाय के लिये

त्याग दे, जो सत्ता के साथ लोहा ले सके। ऐसे व्यक्तियों को फिर 'महात्मा', 'लोकनायक', 'दीदी' इत्यादि की उपाधि दी जाती है। लेकिन ऐसे नेतृत्व के उपर अब तीन प्रश्न चिन्ह लग चुके हैं जो लोगों की तीन पीढ़ियों के अनुभव में समायें हैं। एक प्रश्न चिन्ह तब लगा जब पाया गया कि वर्तमान युग के व्यक्तिवादी होड़ में अब ऐसे ईमानदार निष्ठावान व्यक्ति मिलते ही कम हैं। दूसरा प्रश्न चिन्ह पैदा हुआ जब देखा गया कि ऐसे व्यक्ति अगर मिल भी गये तो नेता बनने के बाद वे अक्सर सत्ता के हाथों बिक जाते थे। और तीसरे की पैदाइश उस बुनियादी विचार से जुड़ी है कि सामूहिक प्रयास की बागडोर, व्यक्ति विशेष के हाथों सौंप देना समूह के सृजन के साथ अन्याय है।

एक नये विचार ने फिर से तूल पकड़ा है –सामूहिक प्रयास की पहल और उसकी निरंतरता को बनाये रखने के लिये समूह नाकाफी क्यों है? अगर आम लोग मिलजुल कर हल्ला बोल सकते हैं, मिलजुल कर कुछ पैदा कर सकते हैं, मिलजुल कर किसी भी तख्त को हिला सकते हैं तो मिलजुल कर फैसला क्यों नहीं ले सकते? मिलजुल कर किसी आंदोलन को क्यों नहीं चला सकते? मिलजुल कर किसी भी नेता को चेतावनी क्यों नहीं दे सकते? इतिहास में कई ऐसे मौके आते हैं जहाँ यह सामूहिक शक्ति प्रकट होती है।

ऐतिहासिक रेल हड़ताल के ज़माने में नेता जॉर्ज फर्नांडिस हड़ताल वापस लेना चाहते थे लेकिन यूनियन के लोगों ने उन्हें यह करने नहीं दिया। इसी प्रकार बम्बई की कपड़ा मिल हड़ताल के दौर में लड़ाकू नेता दत्ता सामंत हार मानने को राज़ी हो गये थे लेकिन मज़दूरों ने उनकी बात नहीं मानी। यह केवल उन कहानियों में से है जिनकी जानकारी मिलती है। असली सामूहिक नेतृत्व का तो ज़िक्र ही नहीं होता क्योंकि जैसे प्रचीन विचारक चीनी लाओ त्सू ने कहा है ''सबसे अच्छा नेता वो है जिसे लोग पहचानते तक नहीं...जब उसका काम हो जाता है, तो लोग कहते हैं,'' काम तो हम ने ही किया''। फ्रांसीसी क्रांतिकारी लेदरू – रोलिन की मशहूर कहावत है,''वो जा रहे हैं लोग। मुझे उनके पीछे जाना है क्योंकि मैं उनका नेता हूं''। नेतृत्व की यह संस्कृति इस देश में अभी भी जीवित है और 73वें संसोधन के आम सभा का अनुभव इस का सबूत है।

इन्हीं बातों को लेकर एक वैकल्पिक गठबंधन की सम्भावना नज़र आती है। जब लोग जुड़ने लगते हैं तो उनको शायद एक ऐसे सामूहिक मंच की ज़रूरत होती है जिसमें तीन गुण हों। पहला कि मंच में जानकारियों का परस्पर आदान प्रदान होता रहे ताकि लोग असली दुश्मन के चरित्र को पहचान सकें और अपनी ज़िन्दगी के विभिन्न आयाम समझ सकें। दूसरा कि मंच में एक खुलेपन का माहौल जिसमें लोग अपनी समस्या को रख सकें और दूसरे की तकलीफ़ में हमदर्दी दिखा सकें। और तीसरा, कि नेतृत्व को चुनावी प्रक्रिया से जोड़ने की बजाय, मंच हर सदस्य को फैसला लेने में हिस्सेदार बनने का मौका दे। वही गठबंधन सबसे मज़बूत है जो अपने सबसे कमज़ोर अंग को मज़बूत बनने में मदद कर सके। यही प्रजातंत्र की सबसे अहम् व्याख्या है। जलते हुए घर में अगर पड़ोसी कूद कर जाता है बच्ची को बचाने, कटते हुए पेड़ की पुकार सुन कर यदि महिलायें दौड़ती हुई चली आती हैं, दंगा–पीड़ित युवती अगर धीरज के साथ कह सके, ''मुझ पर जो गुज़री, वो किसी और को नसीब न हो'' और अगर जन सुनवाई में नेता – अधिकारी अपना रौब भूल जाये तो सामूहिक संस्कृति स्वस्थ है और इसी संस्कृति को जिन्दा रखने का फर्ज़ जन–पक्षीय आंदोलन और गठजोड़ को निभाना पड़ेगा।

ख़तरा केन्द्र, 1201, सी–1, वसंत कुंज, नई दिल्ली – 110070
फोन न. 011 4100 3761 ईमेल – hazardscentre@gmail.com